मरणोत्तर जीवन

स्वामी विवेकानन्द

मरणोत्तर जीवन

स्वामी विवेकानन्द

(चतुर्दश संस्करण)

रामकृष्ण मठ
नागपुर

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक का चतुर्दश संस्करण पाठकों के सम्मुख रखते हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। यह पुस्तक स्वामी विवेकानन्दजी के मौलिक अंग्रेजी लेखों का हिन्दी अनुवाद है। इस पुस्तक में स्वामीजी ने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में हिन्दू मत तथा पाश्चात्य मत दोनों की बड़ी सुन्दर रूप से विवेचना की है और इन दोनों मतों की पारस्परिक तुलना करते हुए इस विषय को भलीभाँति समझा दिया है कि हिन्दुओं का पुनर्जन्मवाद वास्तव में किस प्रकार नितान्त तर्कयुक्त है, साथ ही यह भी कि मनुष्य की अनेकानेक प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण केवल इसी के द्वारा किस प्रकार हो सकता है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे इस प्रकाशन से समस्त जनता का विशेष हित होगा।

नागपुर
दि. २८.४.२००१

— प्रकाशक

अनुक्रमणिका

मरणोत्तर जीवन

क्या आत्मा अमर है?

"विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।"

(भगवद्गीता, २।१७)

उस बृहत् पौराणिक ग्रन्थ "महाभारत" में एक आख्यान है जिसमें कथानायक युधिष्ठिर से धर्म ने प्रश्न किया कि संसार में सब से आश्चर्यकारक क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि मनुष्य अपने जीवन भर प्राय: प्रतिक्षण अपने चारों ओर सर्वत्र मृत्यु का ही दृश्य देखता है, तथापि उसे ऐसा दृढ और अटल विश्वास है कि मैं मृत्युहीन हूँ। और मनुष्य-जीवन में यह सचमुच अत्यन्त आश्चर्यजनक है। यद्यपि भिन्न भिन्न मतावलम्बी भिन्न भिन्न जमाने में इसके विपरीत दलीलें करते आये और यद्यपि इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य और अतीन्द्रिय सृष्टियों के बीच जो रहस्य का परदा सदा पड़ा रहेगा उसका भेदन करने में बुद्धि असमर्थ है, तथापि मनुष्य पूर्ण रूप से यही मानता है कि वह मरणहीन है।

हम जन्म भर अध्ययन करने के पश्चात् भी अन्त में जीवन और मृत्यु की समस्या को तर्क द्वारा प्रमाणित करके "हाँ" या "नहीं" में उत्तर देने में असफल रहेंगे। हम मानव-जीवन की नित्यता या अनित्यता के

पक्ष में या विरोध में चाहे जितना बोले या लिखें, शिक्षा दें या उपदेश करें, हम इस पक्ष के या उस पक्ष के प्रबल या कट्टर पक्षपाती बन जायँ; एक से एक पेचीदे सैकडों नामों का आविष्कार करके क्षण भर के लिए इस भ्रम में पड़कर भले ही शान्त हो जाएँ कि हमने समस्या को सदा के लिए हल कर डाला; हम अपनी शक्ति भर किसी एक विचित्र धार्मिक अन्धविश्वास या और भी अधिक आपत्तिजनक वैज्ञानिक अन्धविश्वास से चाहे चिपके रहें, परन्तु अन्त में तो हम यही देखेंगे कि हम तर्क की संकीर्ण गली में खिलवाड ही कर रहे हैं और केवल बार बार मार गिराने के लिए मानो एक के बाद एक बौद्धिक गोटियाँ उठाते और रखते जा रहे हैं।

परन्तु केवल खेल की अपेक्षा बहुधा अधिक भयानक परिणामकारी इस मानसिक परिश्रम और व्यथा के पीछे एक यथार्थ वस्तु है – जिसका प्रतिवाद नहीं हुआ है और प्रतिवाद हो नहीं सकता – वह सत्य, वह आश्चर्य है जिसे महाभारत ने 'अपने ही नाश (या मृत्यु) को सोच सकने की हमारी मानसिक असमर्थता' कहकर बताया है। यदि मैं अपने नाश (या मृत्यु) की कल्पना करूँ भी, तो मुझे साक्षीरूप से खड़े होकर उसे देखते रहना होगा।

अच्छा, अब इस अद्भुत बात का अर्थ समझने का प्रयत्न करने के पूर्व हमें यह ध्यान में रखना है कि इसी एक तथ्य पर सारा संसार टिका हुआ है या खड़ा है। बाह्यजगत् की नित्यता का अटूट सम्बन्ध अन्तर्जगत् की नित्यता से है। और चाहे विश्व के विषय में वह सिद्धान्त – जिसमें एक को नित्य और दूसरे को अनित्य बताया गया है – कितना ही युक्ति-संगत क्यों न दिखे, ऐसे सिद्धान्तवाले को स्वयं ही अपने ही शरीररूपी यन्त्र में पता चल जायेगा कि ज्ञानपूर्वक किया हुआ एक भी ऐसा कार्य सम्भव नहीं है जिसमें कि आन्तरिक और बाह्य संसार दोनों

की नित्यता उस कार्य के प्रेरक कारणों का एक अंश न हो। यद्यपि यह बिलकुल सच है कि जब मनुष्य का मन अपनी मर्यादा के परे पहुँच जाता है तब तो वह द्वन्द्व को अखण्ड ऐक्य में परिणत हुआ देखता है। उस असीम सत्ता के इस ओर सम्पूर्ण बाह्य संसार – अर्थात् वह संसार जो हमारे अनुभव का विषय होता है – उसका अस्तित्व विषयी (ज्ञाता) के लिए है ऐसा ही जाना जाता है, या केवल ऐसा ही जाना जा सकता है। और यही कारण है कि हमें विषयी के विनाश की कल्पना करने के पूर्व विषय के विनाश की कल्पना करनी होगी।

यहाँ तक तो स्पष्ट है। परन्तु कठिनाई अब इसके बाद होती है। साधारणत: मैं स्वयं अपने को देह के सिवाय और कुछ हूँ, ऐसा सोच नहीं सकता। मैं देह हूँ यह भावना मेरी अपनी नित्यता की भावना के अन्तर्गत है, परन्तु देह तो स्पष्ट ही उसी तरह अनित्य है जैसी कि सदा परिवर्तनशील स्वभाववाली समस्त प्रकृति।

तब फिर यह नित्यता है कहाँ?

हमारे जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली एक और अद्भुत वस्तु है – जिसके बिना "कौन जी सकेगा और कौन क्षण भर के लिए भी जीवन का सुख भोग सकेगा?" – और वह है 'स्वाधीनता की भावना'।

यही भावना हमें पग पग पर प्रेरित करती है, हमारे कार्यों को सम्भव बनाती है और हमारा एक दुसरे से परस्पर-सम्बन्ध नियमित करती है – इतना ही नहीं, मानवी जीवनरूपी वस्त्र का ताना और बाना यही है। तर्क-ज्ञान उसे अपने प्रदेश से अंगुल अंगुल हटाने का प्रयत्न करता है, उसके प्रान्त का एक एक नाका छीनता जाता है और प्रत्येक पद को कार्य-कारण की लोहनिर्मित श्रृंखला से दृढता के साथ लोह-बन्धन में कस दिया जाता है। पर वह तो हमारे इन प्रयत्नों को देखकर हँसती है।

और आश्चर्य तो यह है कि कार्य-कारण के जिस बृहत्पुंज के भीतर दबाकर उसका हम गला घोंटना चाहते थे, उसी के ऊपर वह अपने को प्रतिष्ठित किये हुए है! इसके विपरीत हो भी कैसे सकता है? असीम वस्तु के उच्चतर सामान्यीकरण (generalisation) द्वारा ही सदैव ससीम वस्तु को समझा जा सकता है। बद्ध को मुक्त के द्वारा ही, सकारण को अकारण द्वारा ही समझा सकते हैं। परन्तु यहाँ भी पुन: वही कठिनाई है। मुक्त कौन है? शरीर, या मन भी, क्या स्वाधीन है? यह तो स्पष्ट है कि वे भी नियम से उतने ही बद्ध हैं, जितने कि संसार के और सब पदार्थ।

अब तो समस्या इस दुविधा का रूप धारण कर लेती है : या तो सारी सृष्टि केवल सदा परिवर्तनशील वस्तुओं का ही सामुदायिक रूप है – उसके सिवाय और कुछ नहीं है – और वह कार्यकारण के नियम से ऐसी जकड़ी हुई है कि छूट नहीं सकती, उसमें से किसी अणुमात्र को भी स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त नहीं है, तथापि वह नित्यता और स्वतन्त्रता का एक अमिट भ्रम आश्चर्यजनक रूप में उत्पन्न कर रही है – अथवा हममें और सृष्टि मे कोई ऐसी वस्तु है जो नित्य और स्वतन्त्र है, जिससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के मन का यह मौलिक प्राकृतिक विश्वास भ्रम नहीं है। यह विज्ञान का काम है कि उच्चतर सामान्यीकरण द्वारा सभी घटनाओं को समझाये। अत: जिस बात की सत्यता को समझाना है उसी के किसी बात का खण्डन करके शेष अंश को उपयुक्त बताकर समझाने की युक्ति वैज्ञानिक कदापि नहीं हो सकती, चाहे वह और कुछ भले ही क्यों न हो।

अत: ऐसी व्याख्या जो स्वतन्त्रता की इस प्रबल और सर्वथा अनिवार्य भावना की उपेक्षा करती है और ऊपर कहे अनुसार सत्य के एक अंश का खण्डन करके उसके शेष अंश को समझाती है, वह व्याख्या

अशुद्ध और भ्रमात्मक है।

तब तो यही दूसरा पक्ष सम्भव है कि अपनी प्रकृति के अनुकूल यही बात मान ली जाय कि हममें ऐसी कोई वस्तु है जो स्वतन्त्र और नित्य है।

परन्तु देह वह वस्तु नहीं और न मन ही वह वस्तु है। देह का नाश तो प्रतिक्षण होता रहता है और मन तो सदा बदलता रहता है। देह तो एक संघात है और उसी तरह मन भी। इसी कारण परिवर्तनशीलता के परे वे नहीं पहुँच सकते। परन्तु स्थूल जड़ भूत के इस क्षणिक आवरण के परे, मन के सूक्ष्म आवरण के भी परे, मनुष्य का सच्चा-स्वरूप - नित्य मुक्त सनातन आत्मा अवस्थित है।

उसी आत्मा की स्वतन्त्रता की झलक मन और जड़ शरीर के स्तरों के भीतर से आभासित होती है और नाम-रूप द्वारा रंजित होते हुए भी सदा अपने अबाधित अस्तित्व को प्रमाणित करती है।

उसी का अमरत्व, उसी का आनन्दस्वरूप, उसी की शान्ति और उसी का दिव्यत्व प्रकाशित हो रहा है और अज्ञान के मोटे मोटे स्तरों के रहते हुए भी वह अपने अस्तित्व का अनुभव कराती रहती है; वही यथार्थ पुरुष है, निर्भय है, अमर है और स्वतन्त्र है।

अब स्वतन्त्रता तो तभी सम्भव है जब कि कोई बाहरी शक्ति अपना प्रभाव न डाल सके, कोई परिवर्तन न कर सके; स्वतन्त्रता, उसी के लिए सम्भव है जो सभी बन्धनों से परे हो, सभी नियमों से परे हो और कार्य-कारण की श्रृंखला से भी परे हो। कहने का तात्पर्य यही है कि एक अव्यय (पुरुष) ही स्वतन्त्र हो सकता है और उसी कारण अमर भी हो सकता है।

यह पुरुष, यह आत्मा, मनुष्य का यह यथार्थ स्वरूप, मुक्त, अव्यय, अविनाशी, सभी बन्धनों से परे है, और इसीलिए वह न तो जन्म लेता, न मरता है।

"मनुष्य की यह आत्मा नित्य, सनातन और जन्म-मरणरहित है।"*

□□□
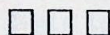
* न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ – गीता, २।२०

पुनर्जन्म

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।

(भगवद्गीता, ४।५)

सभी देशों में और सभी युगों में मनुष्य की बुद्धि को चक्कर में डालनेवाली अनेक पहेलियों में से सब से पेचीदा स्वयं मनुष्य ही है। इतिहास के उष:काल से जिन लाखों रहस्यों के उद्घाटन करने में मनुष्य की बहुतेरी शक्तियों का व्यय किया गया है, उनमें सब से अधिक रहस्यमयी है स्वयं उसकी प्रकृति। वह तो बिलकुल ही न सुलझने लायक पेचीदा गोरखधन्धा है और साथ ही साथ अन्य सभी समस्याओं से बढ़कर महत्त्वपूर्ण है। हम जो कुछ जानते हैं, अनुभव करते हैं और कार्य करते हैं, उन सब का मानवप्रकृति ही प्रारम्भस्थान और भण्डार होने के कारण कभी भी ऐसा समय नहीं रहा है और न भविष्य में ही रहेगा जब कि मानवप्रकृति मनुष्य के लिए सब से अधिक और सर्वप्रथम विचार का विषय न हो।

मानव-अस्तित्व के साथ अति निकट सम्बन्ध रखनेवाली प्रबल जिज्ञासा उस सत्य के प्रति होने के कारण, या बाह्य सृष्टि के माप के आन्तरिक पैमाने के लिए सर्वोपरि उत्कट इच्छा रहने के कारण, या परिवर्तनशील संसार में एक अचल केन्द्र प्राप्त करने की अत्यधिक स्वाभाविक आवश्यकता प्रतीत होने के कारण, मनुष्य कभी कभी मुट्ठी

भर धूलि को ही सुवर्ण जानकर ग्रहण कर लेता है और तर्क या बुद्धि से श्रेष्ठ आन्तरिक ध्वनि द्वारा सचेत किये जाने पर भी अन्त:स्थित ईश्वरत्व का सच्चा अर्थ ठीक ठीक लगाने में कई बार भूल करता है, तथापि जब से खोज या शोध का प्रारम्भ हुआ है, तब से ऐसा समय कभी नहीं रहा जब कि किसी जाति या कुछ व्यक्तियों ने सत्य के दीपक को ऊँचा न उठाये रखा हो।

चारों ओर की परिस्थिति और अनावश्यक ब्योरो की एकांगी, छिछली और पूर्वग्रहदूषित धारणा करके कभी कभी अनेक सम्प्रदायों और पन्थों के अनिश्चित मतों से ऊबकर और – दु:ख की बात है कि बहुधा संगठित पुरोहित दल के घोर अन्धविश्वासों के फलस्वरूप अत्यन्त विपरीत दिशा में पहुँच जाने के कारण – पुराने जमाने में या आजकल विशेषकर प्रौढ़ बुद्धिवाले अनेक मनुष्यों ने सत्य की शोध को निराश होकर छोड़ ही नहीं दिया, वरन् उसे निष्फल और निरुपयोगी भी घोषित कर दिया। भले ही दार्शनिक लोग क्रुद्ध हो और नाक-भौं सिकोड़ें और पुरोहित लोग अपना रोजगार तलवार के बल पर ही क्यों न जारी रखें, परन्तु सत्य तो उन्ही को प्राप्त होता है, जो निर्भय होकर बिना दूकानदारी किये उसके मन्दिर में जाकर केवल उसी के हेतु उसकी पूजा करते हैं।

प्रकाश उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो अपनी बुद्धि द्वारा सचेष्ट होकर प्रयत्न करते हैं, यद्यपि वह धीरे से सम्पूर्ण राष्ट्र के पास बिना जाने पहुँच जाता है। दार्शनिक तत्त्ववेत्तागण महामना पुरुषों द्वारा सत्य की खोज के लिए इच्छापूर्वक किये हुए विशेष प्रयत्नों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, और इतिहास यह बताता है कि वही सत्य किस प्रकार धीरे धीरे चुपके से सारी जनता में प्रविष्ट हो गया।

मनुष्यों ने अपने सम्बन्ध में जितने सिद्धान्त निकाले हैं, उन सब में से सर्वाधिक प्रचलित, शरीर से भिन्न अस्तित्ववाले अमर आत्मा का

ही हैं। और ऐसे आत्मा को माननेवालों में से अधिकांश विचारवान लोग सदा उसके पूर्वास्तित्व में भी विश्वास करते आये हैं।

वर्तमान समय में संगठित धर्मवाले अधिकांश मनुष्य यही विश्वास रखते हैं और सुसम्पन्न देशों के अत्युत्तम विचारशील पुरुष, यद्यपि वे आत्मा के पूर्व-अस्तित्व के विरोधी धर्म में पले हैं, तथापि वे उस विश्वास का समर्थन करते हैं। यह विश्वास हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का आधार है, पुराने मिस्रदेशनिवासी विद्वान् लोग इसे मानते थे, पुराने ईरानी लोगों ने भी इस विश्वास को ग्रहण किया, यूनानी तत्ववेत्ताओं ने इसे अपने दर्शनशास्त्र की नीव बनायी, हिब्रुओं में से फैरिसी लोगों ने इसे स्वीकार किया, मुसलमानों में से प्राय: सभी सूफियों ने इसकी सत्यता को मान लिया।

भिन्न भिन्न देशों में वहाँ की विशेष परिस्थितियों के कारण भिन्न भिन्न मत उत्पन्न होते हैं और बढ़ते है। पुराने राष्ट्रों को यह समझने के लिए कि मृत्यु के उपरान्त शरीर का भी कोई अंश जीवित रह सकता है, कई युगों का समय व्यतीत करना पड़ा। और शरीर से अलग कोई ऐसी वस्तु है जो स्थायी बनी हुई जीवित रहती है, इस प्रकार का युक्ति-संगत मत निश्चित करने के लिए उनको उससे भी अधिक और कई युग लग गये। जब यह मत निश्चित हो गया कि एक कोई ऐसी वस्तु का अलग अस्तित्व है, जिसका सम्बन्ध शरीर के साथ थोड़े ही समय के लिए रहता है, तभी, और केवल उन्ही राष्ट्रों में, जो इस सिद्धान्त पर पहुँचे, यह अनिवार्य प्रश्न सामने आया कि वह वस्तु कहाँ से आयी और कहा जायेगी?

पुराने हिब्रू लोग आत्मा के विषय के कोई विचार अपने मन में न लाकर शान्त बने रहे। उनकी दृष्टि में तो मरण ही सब का अन्त करनेवाला था। कार्ल हेकेल ठीक कहते हैं कि "यद्यपि यह सच है कि

'पुराने टेस्टामेण्ट' (Old Testament) में निर्वास्न के पूर्व हिब्रू लोग शरीर से भिन्न एक जीवन-तत्त्व को पहचानते हैं जिसे वे 'नेफेश' (Nephesh), 'रुआख' (Ruakh), 'नेशामा' (Nashama) कहते हैं, पर इन शब्दों से आत्मा की अपेक्षा प्राणवायु का बोध होता है। पैलेस्टाइन-निवासी यहूदियों के लेखों में भी निर्वासन के उपरान्त अलग अस्तित्ववाले अमर आत्मा की कहीं चर्चा नहीं है, बल्कि सर्वत्र ईश्वर से निकलनेवाली केवल उस 'प्राणवायु' का ही उल्लेख है जो शरीर के नाश होने पर ईश्वरी 'रुआख' में पुनः सम्मिलित हो जाती है।

पुराने मिस्रदेशवासी और खाल्डियन (Chaldeans) लोगों का आत्मा के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का विचित्र मत था, पर मृत्यु के उपरान्त इस जीवित रहनेवाले अंश के सम्बन्ध का वह मत, और पुराने हिन्दू, ईरानी, यूनानी या अन्य आर्यजाति का मत, दोनों एक-ही थे ऐसा समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। अत्यन्त पुराने जमाने से ही आर्यों के और संस्कृत भाषा न बोलनेवाले म्लेच्छों के आत्मासम्बन्धी विचारों में भारी अन्तर था। उन विचारों का बाह्यस्वरूप, मृतशरीर की जो व्यवस्था की जाती है, उससे दिखायी देता है। बहुधा म्लेच्छों का भरसक प्रयत्न यही रहता है कि मृतशरीर की – सावधानी के साथ उसे गाड़कर या और अधिक परिश्रम के साथ मसाला लगाकर उसे ज्यों का त्यों बनाये रखते हुए – रक्षा की जाय। इसके विपरीत आर्यों की साधारण प्रथा मृतशरीर को जला डालने की है।

यही तो एक भारी रहस्य की कुंजी है – यथार्थ तो यही है कि कोई भी म्लेच्छ जातिवाले – चाहे मिस्रदेशवासी हों या एसीरियन या बेबीलोनियन – आर्यों की, विशेषकर हिन्दुओं की सहायता के बिना, कभी इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँचे कि आत्मा का अलग अस्तित्व है और वह शरीर से स्वतन्त्र रहकर भी अलग जी सकती है।

यद्यपि हिरोडोटस का कहना है कि मिस्रदेशवासियों को ही सर्वप्रथम आत्मा की अमरता का ज्ञान हुआ, और वह मिस्रवासियों का यह सिद्धान्त भी बताता है कि "शरीर के नाश होने पर आत्मा जन्म लेनेवाले प्राणियों में पुनः पुनः प्रवेश करती है और थलचर, जलचर, नभचर प्राणियों में भटकते भटकते तीन सहस्र वर्षों के पश्चात् पुनः मनुष्य शरीर को लौटकर आती है", तो भी मिस्रदेशीय प्राचीन इतिहास के आधुनिक शोध करनेवालों ने उस देश के सर्वसाधारण धर्म में आत्मा की देहान्तरप्राप्ति के सिद्धान्त (Metempsychosis) का कोई पता नहीं पाया। इसके विपरीत मैस्पैरो, ए. एरमैन और अन्य विख्यात आधुनिक मिस्र संशोधक तो इसी अनुमान की पुष्टि करते हैं कि मिस्रदेशवासी पुनर्जन्म (Palingenesis) के सिद्धान्त से परिचित नहीं थे।

पुराने इजिप्त (मिस्रदेश) वासी आत्मा को केवल शरीर का प्रतिरूप या जोड़ावाला मानते थे और उनका यह विश्वास था कि वह अपने निजी अलग व्यक्तित्व से रहित है और शरीर से सम्बन्धविच्छेद नहीं कर सकती। जब तक शरीर है तभी तक वह वर्तमान रहती है और यदि संयोगवश मृतशरीर का नाश हो जाय, तो उस शरीर से छूटी हुई आत्मा को दुबारा मृत्यु और विनाश का दुःख भुगतना पड़ता है।

मृत्यु के उपरान्त आत्मा संसार भर स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर सकती थी, परन्तु वह रात के समय सदा दुःखी, सदा भूखी-प्यासी, जिस स्थान में उसका मृतशरीर रहता था, वही लौटकर आ जाया करती थी; उसकी सदैव पुनः एक बार जीवन के सुख भोगने की अत्यन्त उत्कट इच्छा रहती थी, पर उस इच्छा को वह कभी पूर्ण नहीं कर सकती थी। यदि उसके पुराने शरीर के किसी भाग में कोई चोट आ जाय तो आत्मा के भी उसी भाग में अवश्य ही चोट आ जाती थी। अपने इसी विचार के कारण इजिप्तनिवासी अपने यहाँ के मुरदों की रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील रहते

थे। पहले तो उन्होंने मुरदों को गाड़ने के लिए मरुस्थल को पसन्द किया था, क्योंकि वहाँ की सूखी हवा में शरीर का नाश शीघ्र नहीं होता था और इसी कारण गयी हुई आत्मा को दीर्घ जीवन प्राप्त हो जाता था। कुछ काल के उपरान्त उनके यहाँ के एक देवता ने मुरदे को ज्यों का त्यों बनाये रखने की विद्या (Mummification) का आविष्कार किया। इस विद्या द्वारा श्रद्धावान लोग अपने पूर्वजों के मृतशरीरों को प्राय: अनन्तकाल तक रख सकने की आशा करने लगे, जिससे कि मृत आत्मा (या प्रेतात्मा), वह चाहे जितनी भी दु:खी क्यों न हो, अमरत्व प्राप्त कर सके।

जिस संसार में आत्मा अब आगे कोई आनन्द नहीं प्राप्त कर सकती, उस संसार के लिए सदैव शोक करते रहने से मृत पुरुष के दु:ख और पीड़ा का कोई अन्त नहीं रहता था। मृत पुरुष चिल्ला उठता, "अरे मेरे भैया! खान-पान, नशा कुछ भी मत छोड़ो, प्रेम और सुखोपभोग से भी अलग मत होओ, चाहे रात हो या दिन, अपनी वासनाओं की तृप्ति से विरत मत होओ, अपने हृदय में दु:ख मत लाओ – क्योंकि मनुष्य को पृथ्वी पर रहना ही कितने वर्ष है! 'पश्चिम' तो घोर निद्रा और गहरी छाया का स्थान है, जहाँ के निवास करने वाले एक बार स्थापित कर दिये जाने पर अपने 'ममी' (Mummy) रूप में सदा सुप्त रहते हैं और अपने भाइयों को देखने के लिए कभी जागृत नहीं हो सकते; वे अपने माता-पिता को अब आगे कभी नहीं पहचानते और अपनी स्त्रियों और बच्चों को भी अन्त:करण से भूल जाते हैं। वह सजीव जल, जिसे पृथ्वी अपने ऊपर बसनेवाले सभी को देती है, वह जल भी मेरे लिए दूषित और प्राणहीन बन जाता है; वह जल पृथ्वी पर रहनेवालों के लिए तो बहता हुआ है, पर मेरे लिए तो वह जल, जो मेरा है, केवल सड़ा हुआ द्रव मात्र है; जब से मैं इस श्मशानघाटी में आया हूँ, मैं कहाँ हूँ और क्या हूँ, यही नहीं जान पाता। मुझे बहता पानी पीने को दो, मुझे

जल के किनारे मेरा मुँह उत्तर की ओर करके रख दो जिससे कि मुझे शीतल वायु का स्पर्श-सुख प्राप्त हो और मेरा हृदय अपने दु:ख से छूटकर प्रफुल्ल हो उठे।''*

यद्यपि खाल्डियन लोग इजिप्तवालों की भाँति मृत्यु के अनन्तर की आत्मा की अवस्था का इतना हिसाब लगाने नहीं बैठते, पर तो भी उन लोगों में भी आत्मा शरीर का प्रतिरूप है और अपनी कब्र से ही बँधी रहती है। वे भी भौतिक शरीर से अलग अवस्था की कल्पना नहीं कर सके और मुरदे के पुन: जी उठने की आशा करते थे। और यद्यपि देवी इश्तार (Ishtar) ने बड़ी बड़ी विपत्तियों को भोगकर और दु:साहसपूर्ण कार्य करके अपने गड़रिया पति डूमूजी (Dumuji) – इया (Ee) और डैमकिना (Damkina) के पुत्र – को पुन: जिला दिया, पर "अत्यन्त धार्मिक भक्तगण भी अपने मृत मित्रों और बन्धु-बान्धवो को पुनर्जीवन प्राप्त कराने के लिए इस मन्दिर से उस मन्दिर में प्रार्थना करते व्यर्थ ही भटकते रहे।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराने जमाने के इजिप्तवासी या खाल्डियन लोग आत्मा का विचार उसे मृत पुरुष के मृतक शरीर से या कब्र से अलग रखकर नहीं कर सकते थे। इस पृथ्वी पर का जीवन ही सब से बढ़कर था और मृत पुरुष उसी जीवन को पुन: भोगने का अवसर प्राप्त करने के लिए सदा लालायित रहते थे और जीवित पुरुष सदा यही आशा करते थे कि हम उनकी दु:खी आत्मा (शरीर के जोड़े) का अस्तित्व अधिक काल तक बनाये रखने में सहायता पहुँचायें और वे इसलिए भरपूर प्रयत्न

---

* ये मूल पंक्तियाँ ब्रग्श (Brugsch) द्वारा जर्मन भाषा में अनुवादित की गयी हैं। डाय इजिप्टिश ग्रेबरवेल्ट (Die Egyptische Graberwelt) पृष्ठ ३९-४०; इसी प्रकार उनका अनुवाद फ्रान्सीसी भाषा में मैस्पेरो द्वारा किया गया है, एट्यूड्स इजिप्टिएन्निज (Etudes Egyptiennes), भाग १, पृष्ठ १८१-१९०।

भी करते थे।

यह मन की वह अवस्था नहीं है जहाँ से आत्मा का कोई उच्चतर ज्ञान अंकुरित हो सके। प्रथम तो वह बहुत ही भौतिकतापूर्ण है और उस पर भी भय और दु:ख से भरी है। दुष्टता की प्राय: अगणित शक्तियों से डरकर, और निराशा के साथ उनसे बचने का दु:खमय प्रयत्न करते हुए, जीवित पुरुषों की आत्मा भी – मृत पुरुषों की आत्मा के सम्बन्ध की धारणा के अनुसार – संसारभर भटकती हुई – कभी भी कब्र और सड़ते हुए मुरदे के आगे नहीं बढ़ सकी।

चलो, अब हम आत्मा सम्बन्धी उच्चतर विचारों के उद्‌गम के लिए एक और जाति की ओर चलें, जिनका ईश्वर दयानिधान सर्वव्यापी पुरुष है और अनेक प्रकाशमान दयालु और सहायक देवों के रूप में प्रकट होता है; मानवजाति में सर्वप्रथम जिन्होंने ईश्वर को पिता कहकर पुकारा – "हे भगवन्! मेरे हाथों को पकड़कर मुझे उसी प्रकार ले चल जैसे पिता अपने प्यारे पुत्र को ले जाता है"; जो लोग जीवन को आशामय मानते थे, उसे निराशापूर्ण नहीं समझते थे; जिनका धर्म, उन्माद और आवेशपूर्ण जीवन में, दु:खी मनुष्य के मुँह से बारी बारी से निकलनेवाली दु:खभरी आहों का शब्द नहीं होता था, वरन् जिनके विचार खेतों और अरण्यों के सुवास से सुगन्धित होकर हमें प्राप्त होते हैं, जिनके स्तुतिपूर्ण गीत – दिवाकर की प्रथम किरणों से प्रकाशित इस सुन्दर संसार का अभिनन्दन करते समय पक्षियों के गले से निकले हुए मधुर गीतों के समान स्वाभाविक, स्वतन्त्र, आनन्दपूर्ण – अभी भी अनेक शताब्दियों की अवधि के भीतर से स्वर्ग से आनेवाली नयी पुकार की तरह हमें सुनायी दे रहे हैं; – हम उन पुराने आर्यों की ओर दृष्टि डालते हैं।

"मुझे उस मरणरहित, विनाशरहित सृष्टि में पहुँचा दो, जहाँ स्वर्ग का प्रकाश और सनातन तेज चमक रहा है"; "मुझे उस राज्य में अमर

बना दो, जहाँ राजा विवस्वान् का पुत्र निवास करता है, जहाँ स्वर्ग का गुप्त मन्दिर है''; ''मुझे उस राज्य में अमर बना दो, जहाँ श्रवण करते करते वे डोलते हैं''; ''अन्तःस्थित स्वर्ग के तृतीय मण्डल में, जहाँ सारी सृष्टि प्रकाशपूर्ण है, मुझे उस आनन्द के साम्राज्य में अमर बना दो''; – ये आर्यों के सब से पुराने ग्रन्थ 'ऋग्वेद-संहिता' के प्रार्थना-मन्त्र हैं।

हमें म्लेच्छों और आर्यों के आदर्श में एकदम जमीन-आसमान का अन्तर दिखायी देता है। एक को तो यह शरीर और यह संसार ही सम्पूर्ण सत्य प्रतीत होता है और उसके लिए यही इष्ट वस्तु हो जाता है। वह थोड़ासा जीवन-द्रव – जो इन्द्रियों के उपभोग के चले जाने से दुःख और आपत्ति का अनुभव करने के लिए, मृत्यु-काल में शरीर से उड़ जाता है, वही, यदि शरीर की रक्षा सावधानी के साथ की गयी तो, पुनः लौटकर आ जायगा, इस प्रकार की व्यर्थ आशा वे करते रहते हैं; और इसी कारण जीवित मनुष्य की अपेक्षा मुरदा अधिक सावधानी से सुरक्षित रखने की वस्तु बन जाता है। दूसरे को यह पता लग चूका है कि शरीर को छोड़कर जाने वाला ही 'यथार्थ मनुष्य' है और जब शरीर से वह अलग हो जाता है, तब उसने शरीर में रहते समय जो आनन्द कभी नहीं पाया था उससे अधिक आनन्द का उपभोग वह करता है। अतः वे उस सड़ते हुए मुरदे को जलाकर नष्ट कर देने की शीघ्रता करने लगे।

यहाँ हमें उस मूल का पता लगता है, जिससे आत्मा की सच्ची कल्पना का उद्‌गम हुआ। यही स्थान है, जहाँ कि शरीर नहीं वरन् आत्मा ही यथार्थ मनुष्य है, इसका पता चला; यही स्थान है, जहाँ की यथार्थ मनुष्य और उसके शरीर के अटूट सम्बन्ध होने के समस्त विचारों का अभाव है; इसीलिए यहाँ पर आत्मा की स्वाधीनता के उदार विचार का उदय हो सका। और जब आर्यों ने दिवंगत आत्मा जिस शरीररूपी चमकीले वस्त्र के भीतर लपेटी रहती है उसको भेदकर भीतर देखा, तब

उन्हें उस आत्मा का यथार्थ स्वरूप, एकाकी, निराकार, विशिष्ट तत्त्व होने का पता चला और तभी यह अनिवार्य प्रश्न उठा – कि वह कहाँ से आयी?

भारतवर्ष में और आर्यों में ही पूर्वजन्म, अमरत्व और आत्मा के व्यक्तित्व का सिद्धान्त प्रथमत: प्रकट हुआ। इजिप्त देश के आधुनिक संशोधनों में इस पृथ्वी पर के जीवनकाल के पूर्व और पश्चात् रहनेवाली स्वतन्त्र व्यक्तिमान आत्मा के सिद्धान्तों का नामनिशान नहीं पाया जाता। किसी किसी रहस्यग्रन्थ में यह विचार है पर उनमें उसका सूत्र भारतवर्ष से ही सम्बन्ध रखता पाया गया है।

कार्ल हेकेल कहते हैं – ''मुझे निश्चय हो चुका कि जितनी अधिक गम्भीरता से हम इजिप्तवालों के धर्म का अध्ययन करते हैं, उतना ही अधिक स्पष्ट हमें यह दिखता है कि सर्वसाधारण इजिपश्यिन धर्म के लिए आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति (Metempsyechosis) का सिद्धान्त बिलकुल परायी वस्तु थी और जिस किसी भी रहस्य ग्रन्थ में वह बात है, वह ओसाइरिस (Osiris) उपदेशों के अन्तर्गत नहीं है, वह हिन्दू ग्रन्थ से प्राप्त किया है।''

तत्पश्चात् हम अलेक्जेण्ड्रिया के यहुदियों में व्यक्तिमान आत्मा का सिद्धान्त देखते हैं और ईसा मसीह के समय के फैरिसी लोग भी – जैसा हम पहले बता चुके हैं – न केवल स्वतन्त्र आत्मा में ही विश्वास करते थे वरन् भिन्न भिन्न शरीरों में वह भटकती रहती है, यह भी मानते थे; और इस प्रकार यह जानना आसान हो जाता है कि ईसा मसीह एक पुराने पैगम्बर के अवतार कैसे माने गये; और स्वयं ईसा मसीह जोर देकर कहते थे कि पैगम्बर इलियस ही जान बैप्टिस्ट बनकर पुन: आये थे। ''यदि आप इसे मानें, तो यह इलियस ही है, जो आनेवाला था।'' – मैथ्यु ११-१४।

आत्मा और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विचार हिब्रुओं में, मालूम

होता है, मिस्री लोगों के उच्चतर रहस्यमय उपदेशों के द्वारा पहुँचा और इजिप्तवालों ने उसे भारतवर्ष से ग्रहण किया। और वह विचार अलेक्ज़ेण्ड्रिया के रास्ते आया, यह बात अर्थपूर्ण है, क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों से स्पष्ट पता चलता है कि बौद्ध धर्मप्रचारकों का कार्यक्षेत्र अलेक्ज़ेण्ड्रिया और एशिया माइनर में रहा है।

कहा जाता है कि पाइथागोरस ही प्रथम यूनानी है, जिसने ग्रीस (यूनान) देशवाले हेलन्स लोगों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त सिखाया। वे आर्य जाति के होने के कारण पहले ही अपने मुरदों को जलाते थे और व्यक्तिमान आत्मा के सिद्धान्त को मानते थे; अत: उन यूनानियों को, पाइथागोरस के उपदेश से पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान लेना आसान मालूम पड़ा। अपूलियस (Apuleius) के कथन के अनुसार पाइथागोरस भारतवर्ष में आये थे और वहाँ के ब्राह्मणों से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी।

अब तक हम यह जान चुके कि जहाँ कहीं आत्मा न केवल शरीर को जीवित रखनेवाला एक अंश, वरन् पृथक्, 'यथार्थ मनुष्य' ही मानी जाती है, वहाँ उसके पूर्वास्तित्व का सिद्धान्त अवश्य ही निश्चित हो चुका; और जिन राष्ट्रों ने आत्मा के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को माना, उन्होंने मृतक शरीर को जलाकर अपने उस विश्वास को बाह्यरूप में सदैव प्रकट भी किया; यद्यपि आर्यों की एक पुरानी जातिवाले पर्शियानिवासियों (फारस देशवालों) ने पुराने जमाने से ही, बिना किसी सेमिटिक प्रभाव के, अपने यहाँ के मुरदों को अलग करने की एक अद्भुत रीति प्रचलित की। वे अपने "Towers of Silence" (शान्ति की मीनारों) को जिस नाम से पुकारते हैं वह नाम "दह" (जलाना) धातु से बना है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जिन जातियों ने अपनी प्रकृति के विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, वे तो अपने सर्वस्वरूपी इस भौतिक शरीर के परे नहीं पहुँचे और जब कभी उन्हें उसके परे जाने

के लिए उच्चतर आलोक द्वारा प्रेरणा हुई, तब भी वे केवल इसी सिद्धान्त पर पहुँचे कि किसी भी प्रकार, कभी सुदूर भविष्य में यह शरीर ही अविनाशी बन जायगा।

इसके विपरीत उस जाति या राष्ट्र के लोगों ने – इण्डो-आर्यन लोगों ने अपनी अधिकांश उत्तम शक्तियाँ इसी खोज में लगा दीं कि इस बुद्धि-शक्तियुक्त मनुष्य का यथार्थ स्वरूप क्या है? और परिणाम में उन्हें पता लगा कि इस शरीर के परे, और उसके पूर्वज जिस तेजस्वी शरीर की आकांक्षा करते रहे उसके भी परे, 'यथार्थ मानव', वह सत्य तत्त्व, वह व्यक्ति है, जो इस शरीररूपी आवरण या वस्त्र को धारण कर लेता है और पुन: उसके जीर्ण हो जाने पर उसे अलग फेंक देता है। क्या यह तत्त्व सृष्ट किया गया? यदि 'सृजन' का अर्थ यह है कि 'कुछ नहीं' से कोई वस्तु बाहर आयी तब तो उसका उत्तर निश्चयात्मक "नहीं" है। यह आत्मा जन्मरहित और मरणरहित है; यह आत्मा किसी प्रकार के सम्मिश्रण या संयोग से बनी हुई नहीं है, वरन् स्वतन्त्र व्यक्तिमत्ता है और इसी कारण न तो वह उत्पन्न की जा सकती और न उसका नाश ही किया जा सकता है। वह तो भिन्न भिन्न अवस्थाओं में से यात्रा कर रही है।

स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि वह इतने समय तक कहाँ थी? हिन्दू तत्त्ववेत्ता कहते हैं – "वह भौतिक दृष्टि से भिन्न भिन्न शरीरों में प्रवेश कर रही थी, या, यथार्थ में तात्त्विक दृष्टि से देखने पर भिन्न भिन्न मानसिक भूमिकाओं में से जा रही थी।"

हिन्दू दार्शनिक लोगों ने जो पुनर्जन्म का सिद्धान्त निकाला है, उसके लिए वेदों के उपदेश के सिवाय और भी कोई प्रमाण है? हाँ! ऐसे प्रमाण है; और हम आगे यह बताने की आशा करते हैं कि उसके लिए ऐसेही प्रबल प्रमाण हैं जैसे किसी भी अन्य सर्वमान्य सिद्धान्त के लिए। परन्तु पहले हम यह देख लें कि कई आधुनिक यूरोपीय मनीषियों

ने पुनर्जन्म के सम्बन्ध में क्या कहा है।

आई. एच. फिक्टे (I.H. Fichte) आत्मा की अमरता के विषय में बोलते हुए कहते हैं – "यह सच है कि प्राकृतिक जगत् में एक दृष्टान्त है, जो दलील के रूप में अविच्छिन्न अस्तित्व के विरुद्ध सामने लाया जा सकता है। वह यही प्रसिद्ध तर्क है कि जिस वस्तु का किसी काल में आरम्भ हुआ उसका अन्त या नाश किसी काल में अवश्य होगा। अत: आत्मा भूतकाल में थी इस विवाद पक्ष में उसका पूर्व-अस्तित्व तो मान ही लिया गया। यह युक्तिसंगत सिद्धान्त है, पर यह तो उसके अविच्छिन्न अस्तित्व के विरोध में न होकर उसके पक्ष में एक और युक्ति हो गयी। यथार्थ में आवश्यकता है दर्शनशास्त्र-विषयक शरीर-विज्ञान के इस सत्य के सम्पूर्ण अर्थ को समझने की कि यथार्थ में कोई वस्तु उत्पन्न नहीं की जा सकती और न कोई वस्तु नष्ट ही की जा सकती है। इसी को समझने से, भौतिक शरीर में दृष्टिगोचर होने के पूर्व आत्मा का अस्तित्व अवश्य रहा होगा, यह बात जँच जाती है।"

शोपेनहावर अपनी पुस्तक 'Die Welt als Wille und Vorstellung' में पुनर्जन्म के विषय में कहते हैं – "किसी व्यक्ति के लिए जैसी नींद है, उसी तरह 'इच्छाशक्ति' के लिए मृत्यु है। यदि स्मरण और व्यक्तित्व कायम रहें, तो उन्हीं कर्मों को करना और उन्हीं दु:खों को भोगना, यही सदा अनन्त काल तक, बिना लाभ के करते रहना कभी सहन नहीं हो सकता। वह इन्हें दूर फेंक देती है और यही Lethe 'लेथी' (मृत्यु) है, और इस मृत्युरूपी नींद में से नया प्राणी बनकर दूसरी बुद्धीन्द्रिय को साथ लेकर पुन: प्रकट होता है; नया दिवस उसे नये प्रदेशों की ओर ललचाता है। तब तो ये सतत होनेवाले नये जन्म उस अविनाशी इच्छा-शक्ति के जीवन-स्वप्न की लगातार श्रेणीरूप हैं। यह तब तक चलेगा, जब तक कि बारम्बार के नये शरीरों में अधिकाधिक और भिन्न भिन्न प्रकार

के ज्ञान द्वारा शिक्षित और उन्नत होकर वह अपना ही अभाव करके अपने को विलुप्त न करे दे। इस प्रकार के पुनर्जन्म का अनुभव द्वारा भी प्रमाण मिल जाता है – यह नहीं भूलना चाहिए। यथार्थ में तो नये प्रकट होनेवाले प्राणियों के जन्म से और जीर्ण होनेवालों की मृत्यु से सम्बन्ध रहता ही है। यह बात तब दिखायी देती है, जब कि उजाड़ बना देनेवाली भयंकर बीमारियों का परिणाम सा प्रतीत होनेवाली मनुष्यजन्म-संख्या की बाढ़ का आधिक्य हुआ करता है। चौदहवी शताब्दी में जब 'ब्लैक डेथ' (Black Death) नामक बीमारी ने 'पुरानी दुनिया' की अधिकांश आबादी को उजाड़ कर दिया, उस समय मानवजाति में बहुत असाधारण रूप से उत्पत्ति-शक्ति और जन्मसंख्या बढ़ गयी। यमज (जुड़वाँ) बालकों की पैदायश अधिक हुई। एक बात और उल्लेखनीय है कि उस समय पैदा होनेवाले बच्चों के दाँत पूरी संख्या में नहीं जमे; इस प्रकार प्रकृति ने भरपूर प्रयत्न किये, परन्तु सूक्ष्म अंगो की उत्पत्ति में कृपणता कर दी। यह विवरण एफ्. स्नूरार (F. Schnurrer) ने अपने Chronik der Senchen १८२५ में दिया है। कैस्पर (Casper) भी अपने Ueber die Wahrscheinliche Lebensdauer des Menschen १८३५ में इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि किसी विशिष्ट आबादी में वहाँ की जनसंख्या का प्रभाव वहाँ के जीवनकाल की दीर्घता और मृत्युसंख्या पर अवश्य पड़ता है, क्योंकि जन्मसंख्या मृत्युसंख्या के साथ साथ चलती है, सदैव और सर्वत्र मृत्यु और जन्म की संख्याएँ समान अनुपात में बढ़ती और घटती हैं; इस बात को निःसन्देह रूप से सिद्ध करने के लिए उन्होंने भिन्न भिन्न देशों और भिन्न भिन्न प्रान्तों से प्रमाण एकत्र किये हैं। और, फिर यह तो असम्भव है कि मेरी अकाल मृत्यु से, और जिस विवाह से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसे विवाह द्वारा अनेक सन्तान के जन्म लेने से कोई भौतिक कार्य-कारण-सम्बन्ध हो। इस प्रकार यहाँ

आध्यात्मिकता अस्वीकार करने लायक नहीं दिखायी देती और निश्चयात्मक रूप से भौतिक घटना को समझने लायक तात्कालिक कारण मिल जाता है। प्रत्येक नवजात प्राणी नये जीवन में ताजा और प्रफुल्लित होकर आता है और उसका मुक्त देन के रूप में उपभोग करता है; परन्तु मुक्त दान के रूप में कुछ भी नहीं दिया जाता और कुछ भी नहीं दिया जा सकता। इस ताजे जीवन का दाम बुढ़ापे और उस जीर्ण जीवन की मृत्यु द्वारा दिया जाता है, जिस जीवन का नाश तो हो गया, परन्तु इसके भीतर वह अविनाशी बीज था, जिसमें से नया जीवन अंकुरित हुआ है। वे दोनों जीवन एक ही हैं।''

वह महान् अंग्रेज तत्त्ववेत्ता ह्यूम, शून्यवादी होते हुए भी अमरत्व पर अपने सन्देहवादी निबन्ध में कहता है – ''आत्मा की देहारन्तप्राप्ति (Metempsychosis) ही इस प्रकार का मत है जिस पर दर्शन-शास्त्र ध्यान दे सकता है।'' तत्त्ववेत्ता लेसिंग एक कवि की गम्भीर अन्तर्दृष्टि के साथ पूछता है, ''वह मत या कल्पना क्या इतनी हँसी के लायक इसीलिए है कि वह सब से पुरानी है? – इसीलिए कि मानवबुद्धि – विभिन्न पन्थों के मिथ्यावादों के द्वारा नष्ट या दुर्बल होने के पूर्व – एकदम उस कल्पना पर उतर पड़ी? ... जिस प्रकार मैं नया ज्ञान, नया अनुभव कई बार प्राप्त कर सकता हूँ, उसी प्रकार अनेक बार मैं क्यों न लौट आऊँ? क्या मैं एक ही बार में इतना ले आया हूँ कि दुबारा वापस लौटने का कष्ट व्यर्थ जायगा?''

आत्मा का अस्तित्व पूर्व से ही रहता है और वह अनेक जन्म धारण करती है, इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में कई दलीले दी गयी हैं और सभी समय के कई अत्यन्त विचारवान पुरुष उस सिद्धान्त का पक्ष लेकर विरोधी के वाद का खण्डन करते आये हैं; और जहाँ तक हम समझ सकते हैं यदि कोई व्यक्तिमान आत्मा है तो उसका अस्तित्व पहिले

से होना आवश्यक दिखता है। यदि आत्मा का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है, वरन् वह स्कन्धों (विचारों) का संयोग है, जैसा कि बौद्ध सम्प्रदाय के माध्यमिकों का कहना है, तो भी उन्हें अपने मत को समझाने के लिए पूर्व अस्तित्व को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

अनन्त अस्तित्व के किसी काल में आरम्भ होने की असम्भावना सिद्ध करनेवाली दलील का कोई खण्डन नहीं हो सकता, यद्यपि इस दलील को काटने के प्रयत्न यह कहकर किये गये हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वह कुछ भी कार्य – चाहे वह तर्क के असंगत ही क्यों न हो – कर सकता है। हमें यह देखकर खेद होता है कि इस प्रकार का भ्रमपूर्ण विवाद कई अत्यन्त विचारवान पुरुष किया करते हैं।

पहली बात तो यह है कि ईश्वर सभी घटनाओं का एकमात्र सामान्य कारण है, इसलिए प्रश्न यह है कि कुछ विशिष्ट घटनाओं के स्वाभाविक कारणों का पता मानवात्मा में ही लगाना होगा। अतः "कर्ता-धर्ता सब ईश्वर ही है" (Deus exmachina) का सिद्धान्त यहाँ बिलकुल असंगत है। इसका अर्थ तो इसके सिवाय और कुछ नहीं होता कि हम अपना अज्ञानी होना स्वीकार करते हैं। मानव-ज्ञान के किसी भी विभाग में किसी भी प्रश्न के पूछे जाने पर हम यही उत्तर दे सकते हैं और हर प्रकार की जिज्ञासा को – और परिणामतः ज्ञान को ही – समाप्त कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि हर समय ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की दुहाई देना केवल शब्द-जाल है। कारण का, कारण के रूप में कार्य के लिए पर्याप्त होना ही हमें विदित होता है, और हो सकता है; इससे अधिक और कुछ नहीं। इस तरह हम किसी सर्वशक्तिमान कारण की अपेक्षा किसी अनन्त कार्य के विषय में और अधिक विचार नहीं कर सकते। इसके सिवाय यह भी है कि ईश्वर सम्बन्धी हमारे सभी विचार समर्याद ही है; उसे कारण कहना भी तो हमारे ईश्वर सम्बन्धी विचार को मर्यादित कर

देना है।

तीसरी बात यह है कि वह स्वीकार भी कर लिया जाय, तो हम ऐसे किसी असम्भव सिद्धान्त को तब तक मानने को बाध्य नहीं हैं कि "कुछ नहीं (या शून्य) में से कोई पदार्थ उत्पन्न हुआ" या "किसी अनन्त पदार्थ का आदि या आरम्भ किसी विशिष्ट काल में हुआ" जब तक कि हम इसे दूसरी अधिक अच्छी रीति से समझ सकते हैं।

पूर्व-अस्तित्व के सिद्धान्त के विरोध में एक बहुत बड़ी कहलानेवाली यह दलील दी जाती है कि मनुष्यजाति में से अधिकांश को इसका भान नहीं है। इस दलील की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए यह सिद्ध करना चाहिए कि मानवात्मा का सम्पूर्ण अंश स्मरणशक्ति से बद्ध है। यदि स्मृति ही अस्तित्व की कसौटी है, तब तो हमारे जीवन का वह अंश जो अभी उसमें नहीं है, उसका तो अस्तित्व नहीं ही होना चाहिए और हरएक मनुष्य जो बेहोशी की अवसथा में या और किसी तरह अपनी स्मरण-शक्ति को खो बैठता है, वह भी अस्तित्वहीन होना चाहिए।

जिन तर्कों के आधार से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि पूर्व-अस्तित्व है – और वह भी सज्ञान कर्म की भूमिका में है (जैसा कि हिन्दू दार्शनिक विद्वान् सिद्ध करते हैं), वे तर्क मुख्यत: ये हैं :–

प्रथमत: इस संसार में जो असमानता है, उसको और किस प्रकार से समझाये? न्यायी और दयानिधान ईश्वर की सृष्टि में एक बालक जन्म लेता है, उसकी हरएक परिस्थिति उसको उत्तम और मानवसमाज के लिए उपयोगी बनाने के लिए अनुकूल है; और सम्भवत: उसी क्षण में और उसी शहर में एक दूसरा बालक जन्म लेता है, जिसकी प्रत्येक परिस्थिति उसके अच्छे बनने के प्रतिकूल है। हम ऐसे बच्चे देखते हैं जो कि दु:ख भोगने के लिए – और सम्भवत: जन्मभर दु:ख भोगने के लिए ही – जन्म लेते हैं; और ऐसा उनके स्वयं के किसी अपराध के कारण नहीं

होता। ऐसा क्यों होना चाहिए? इसका कारण क्या है? किसकी अज्ञानता का यह परिणाम है? यदि उस बालक का कोई अपराध नहीं है, तो उसके माता-पिता के कर्मों के लिए उसे क्यों दु:ख भोगना चाहिए?

यहाँ के दु:ख के अनुपात से भविष्य में सुख मिलेगा, ऐसा प्रलोभन दिखाने या ''रहस्यात्मक'' बातें सामने लाने की अपेक्षा तो 'इसका कारण हम नहीं जानते' – यह स्वीकार कर लेना अधिक अच्छा है। कोई हमें बिना अपराध के जबरदस्ती दण्ड भुगतावे, यह तो नैतिकता के विरुद्ध है – अन्याय तो है ही – ''परन्तु भविष्य काल में पूर्ति होने'' का सिद्धान्त भी लँगड़ा और निराधार है।

दु:ख-दैन्य में जन्म लेनेवालों में से कितने उच्चतर जीवन बनाने का कष्टकर प्रयत्न करते है और कितने – उससे अधिक संख्या में – जिस परिस्थिति में रखे जाते हैं, उसी के शिकार हो जाते हैं? बुरी परिस्थिति में बलात् जन्म दिये जाने के कारण जो अधिक बुरे और दुष्टतर बन जाते हैं, उन्हें भविष्य में उनके जीवनकाल की दुष्टता के लिए क्या पारितोषिक मिलना चाहिए? तब तो मनुष्य यहाँ जितना ही अधिक दुष्ट होगा, उतना ही इस जन्म के पश्चात् उसे सुखोपभोग प्राप्त होगा।

मानव-आत्मा की गरिमा और स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित करने के लिए और इस संसार में विद्यमान असमानता और भयानक दु:खों के अस्तित्व को समझाने के लिए कुल भार उसके यथार्थ कारण – हमारे निज के स्वतन्त्र कृत्यों या ''कर्म'' – पर रखने के सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि आत्मा का शून्य (अस्तित्वहीन वस्तु) से उत्पन्न किये जाने का सिद्धान्त अवश्यमेव हमें ''दैववाद और प्रारब्ध-लेख'' की ओर ले जायगा, और ''दयानिधान परमपिता'' ईश्वर के बदले हमारे सामने पूजा के लिए भयंकर, निर्दयी और सदा रुष्ट ईश्वर स्थापित कर देगा। और जहाँ तक धर्म की भलाई या बुराई करने की शक्ति का

सम्बन्ध है, उसमें तो यह उत्पन्न की हुई आत्मा का सिद्धान्त परिणाम में "दैव और प्रारब्धलेख" के वादों की ओर ले जाकर उस भयानक धारणा के लिए उत्तरदायी बनता है, जो ईसाईयों और मुसलमानों में प्रचलित है – कि मूर्तिपूजकों को तलवार के घाट उतार देना (बुतपरस्तों को कत्ल कर देना) न्यायसंगत है। और उसी के कारण सभी बीभत्स काण्ड हुए हैं और अब तक हो रहे हैं।

परन्तु न्यायमतवादी तत्त्ववेत्ताओं ने पुनर्जन्म के पक्ष में सदैव एक तर्क उपस्थित किया है, जो हमें निश्चयात्मक प्रतीत होता हैं, वह तर्क यह है कि "हमारे अनुभव लुप्त या नष्ट नहीं किये जा सकते।" – हमारी कृतियाँ (कर्म) यद्यपि देखने में लुप्त-सी हो जाती है तथापि "अदृष्ट" बनी हुई रहती हैं और अपने परिणाम में "प्रवृत्ति" का रूप धारण करके पुनः प्रकट होती हैं। छोटे छोटे बच्चे भी कुछ प्रवृत्तियों को – उदाहरणार्थ, मृत्यु का भय – अपने साथ लेकर आते हैं।

अब यदि प्रवृत्ति बारम्बार किये हुए कर्म का परिणाम है, तो जिन प्रवृत्तियों को साथ लेकर हम जन्म धारण करते हैं, उनको समझने के लिए उस कारण का भी उपयोग करना चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि वे प्रवृत्तियाँ हमें इस जन्म में प्राप्त हुई नहीं हो सकती; अतः हमें उनका मूल पिछले जन्म में ढूँढ़ना चाहिए। अब यह भी स्पष्ट है कि हमारी प्रवृत्तियों में से कुछ तो मनुष्य के ही जान-बूझकर किये हुए प्रयत्नों के परिणाम है; और यदि यह सच है कि हम उन प्रवृत्तियों को अपने साथ लेकर जन्म लेते हैं, तब तो बिलकुल यही सिद्ध होता है कि उनके कारण गतजन्म में जान-बूझकर किये हुए प्रयत्न ही हैं – अर्थात् इस वर्तमान जन्म के पूर्व हम उसी मानसिक भूमिका में रहे होंगे, जिसे हम मानव-भूमिका कहते हैं।

जहाँ तक वर्तमान जीवन की प्रवृत्तियो की भूतकालीन, ज्ञानपूर्वक

किये हुए प्रयत्नों द्वारा समझाने की बात हैं, वहाँ तक भारतवर्ष के पुनर्जन्मवादी और वर्तमान विकासवादी एकमत हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि हिन्दू लोग अध्यात्मवादी होने के कारण उसे जीवात्माओं के सज्ञान प्रयत्नों के द्वारा समझाते हैं और विकासवाद के भौतिक मतवाले उसे पिता से पुत्र में आनेवाले आनुवांशिक संक्रमण द्वारा समझाते हैं। जो शून्य से उत्पत्ति होने का सिद्धान्त मानते हैं, वे तो किसी गिनती में नहीं हैं।

अब विवाद केवल पुनर्जन्मवादी और भौतिकवादवालों में ही है – पुनर्जन्मवादी लोग यह मानते है कि सभी अनुभव प्रवृत्तियों के रूप में अनुभव करनेवाली जीवात्मा में संगृहीत रहते हैं और उसे अविनाशी जीवात्मा के पुनर्जन्म द्वारा संक्रमित किये जाते हैं; भौतिकवादवाले मस्तिष्क को सभी कर्मों के आधार होने के और बीजाणुओं (Cells) के द्वारा उनके संक्रमण का सिद्धान्त मानते है।

इस प्रकार हमारे लिए पुनर्जन्म का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है, क्योंकि पुनर्जन्म के और बीजाणुओं के द्वारा आनुवंशिक संक्रमण के मध्य जो विवाद है वह यथार्थ में आध्यात्मिकता और भौतिकता का विवाद है। यदि बीजाणुओं द्वारा आनुवंशिक संक्रमण समस्या को हल करने के लिए पूर्णतः पर्याप्त है, तब तो भौतिकता ही अपरिहार्य है और आत्मा के सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह पर्याप्त नहीं है, तो प्रत्येक आत्मा अपने साथ इस जन्म में अपने भूतकालिक अनुभवों को लेकर आती है, यह सिद्धान्त पूर्णतः सत्य है। पुनर्जन्म या भौतिकता – इन दो में से किसी एक को मानने के सिवा और कोई गति नहीं है। प्रश्न यह है कि हम किसे मानें?

□□□
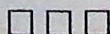
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य

एवं अन्य आध्यात्मिक प्रकाशनों के लिए लिखें :

रामकृष्ण मठ, (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर ४४० ०१२

(H-31) Maranottar Jivan : Rs. 6.00